

भारत में सामंतवाद का ऐतिहासिक विश्लेषण

अमनदीप

शोधार्थी (इतिहास), महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा, भारत

सारांश

सामंतवाद शब्द यूरोपीय समाज में मौजूद एक धारणा का नाम है, जिसमें भू-स्वामी के भूमि संबंधी अधिकारों को दासों या किसानों के अधिशेष पर चलने वाले परजीवी के रूप में माना गया है। हालांकि यह अवधारणा इतनी पुरानी नहीं है परंतु 17वीं सदी के बाद इसका अस्तित्व भी नगण्य है। यह एक पिछड़ी और धीमी गति से बदलने वाली व्यवस्था के रूप में दिखाया गया है। सामंतवाद की तुलना एक ऐसी व्यवस्था से की गई है जहाँ सत्ता सामंती भू-स्वामियों के हाथों में हो और अत्यधिक केन्द्रीकृत हो। यहाँ तक की एक नाममात्र के शासक को भी सार्वजनिक रूप से संप्रभु के रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्सवाद ने विशेषरूप से उत्पादन के प्रश्न की ओर ध्यान आकर्षित किया, यथा भूमि और श्रमिक के बीच संबंध। भू-स्वामी दासों से यह भूस्वामी-कृषक संबंधों की ओर चला गया।

मूल शब्द: सामंतवाद, मार्क्सवाद, नौकरशाही, कुलीन वर्ग, विकेन्द्रीकरण

प्रस्तावना

भारत में सामंतवाद पर सबसे पहले जेम्स टॉड ने लिखा। उन्होंने मध्यकालीन राजस्थान में भू-स्वामी व कृषकों की तुलना युरोप में मौजूद सामंतवादी ढांचे से की। भारतीय इतिहास लेखन में सामंतवाद का प्रयोग बढ़ते मार्क्सवादी दृष्टिकोण से होने लगा। मार्क्सवाद ने भारत समेत एशिया की उत्पादन पद्धति को पूर्व औपनिवेशिक काल तक अपरिवर्तनशील बताया परंतु इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं हैं। प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार इरफान हबीब अपने आप को 'भारतीय सामंतवाद' की अवधारणा से अलग रखते हैं, और उन्होंने मार्क्स की भी तीव्र आलोचना की है। 1956 में प्रकाशित पुस्तक 'एक इंटरोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री' में डी. डी. कोशाम्बी ने भारतीय इतिहास में सामंतवाद को दो स्वरूपों 1) ऊर्ध्वगामी सामंतवाद 2) अधोगामी सामंतवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया।

प्रो० आर एस शर्मा ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'इंडियन फ्यूडलिज्म, में कोशांबी के सिद्धांत को नहीं माना अपितु उन्होंने भारतीय इतिहास में सामंतवाद के उदय को पूरी तरह से राजकीय कारवाई के परिणाम के रूप में देखा, अर्थात् ऊपर से। इस दृष्टिकोण से मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों के बीच 1950 के दशक के आरंभ में एक अंतर्राष्ट्रीय विवाद पैदा हुआ। यह विवाद अब मुख्य रूप से इस प्रश्न तक ही सीमित है कि क्या सामंतवाद और व्यापार परस्पर असंगत है। साथ ही, बौद्धिक भूदृश्य के अन्य क्षेत्रों में, खासकर फ्रांस में, जहाँ इतिहास लेखन की एनल्स विचारधारा एक वैकल्पिक के रूप में विकसित हुई। उसने नए-नए प्रश्न शुरू किए और नए-नए आयामों पर अन्वेषण होने लगा।

भारतीय सामंतवाद का स्वरूप

जब हम सामंतवाद की परिभाषा और उसके सार्वभौमिक होने की बात करते हैं तो यह एक विवाद को जन्म देता है क्योंकि कृषि भूमि पर अधिकार तथा भू अधिशेष के अतिरिक्त समाज तथा भौगोलिक गतिविधियां एक बहुत बड़ा प्रभाव कृषि पर डालती हैं, और ये परिस्थितियां अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग होती हैं। भारत में भूमि यूरोप से ज्यादा उपज देती थी तथा साल के 12 महीने फसल देती थी। यहाँ बेगार, बंधुआ आदि यूरोपीय विशेषता नहीं थी। भारतीय किसान या कृषक मजदूर स्वयं के लिए मेहनत करता था जबकि यूरोपीय कृषक दास जमींदार के लिए मेहनत करता था।

सामंतवादी व्यवस्था के तहत कर्मचारियों को वेतन नकद ना देकर भूमि अनुदानों के रूप में दिया जाता था। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि नई बस्तियों से संबंधित कुछ अधिकारियों को छोड़कर राज्य के समस्त अधिकारियों को नकद वेतन मिलता था। लेकिन संभवतः दूसरी शताब्दी में संकलित मनुस्मृति में राजस्व अधिकारियों के भूमिदान के रूप में वेतन देने का उल्लेख है। गुप्तकालीन स्मृतिकार भी इस व्यवस्था को कायम रखते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि हर्षवर्धन के काल में अधिकारियों को वेतन नकद न होकर भूमिदान के रूप में मिलता था।

इस व्यवस्था में सामन्तों को अपने सम्राटों के प्रति कुछ दायित्वों का निर्वाह करना होता था बाण पहला लेखक जिसने हर्षचरित तथ कादम्बरी में सामन्तों के कर्तव्यों का संकेत दिया है। सामान्यतः सामन्तों का मुख्य कर्तव्य था अपने राजा के लिए सेना संगठित करना, वार्षिक कर देना तथा प्रतिवर्ष राजा के दरबार में उपस्थिति होकर अपनी वफादारी प्रदर्शित करना। ये सम्राट के साथ अनेक मनोरंजनों में भी हिस्सा लेते थे। इस प्रकार सामन्त सैनिक और प्रशासनिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक दृष्टिकोण से सामन्त पद्धति का यह लाभ था कि इसमें केन्द्र से प्रशासित नौकरशाही की आवश्यकता नहीं रह जाती थी।

इस सामंतवादी ढांचे में हुई विविध उपसामन्तों की वृद्धि के कारण भूमि से प्राप्त होने वाली आय अनेक भागों में बिखर जाती थी। दूसरी ओर राजा की स्थिति ऊपर से कमजोर हुई तथा नीचे से कृषक की स्थिति कमजोर हुई। बिचौलियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण अधिक आय उनके हाथों में आ गई तथा उन्होंने कृषकों पर कई अन्य नए कर भी लगा दिए। कुछ कृषक तो 1/3 हिस्सा कर के रूप में अदा करते थे। यद्यपि सामान्यतः उत्पादन का 1/6 भाग ही कर के रूप में प्रचलित था। इन करों के अलावा किसानों और शिल्पियों से बेगार भी लिया जाता था। कुलीन वर्ग पूर्णतः कृषि पर निर्भर था और जुताई का वास्तविक कार्य कृषक करते थे। जो अधिकतर शुद्ध होते थे। इस काल में उत्पादन स्थानीय जरूरतों को पूरा करने जितना उत्पादित किया जाता था। यानि आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी जिसमें अतिरिक्त उत्पादन पर जोर नहीं दिया जाता था। व्यापार और विनिमय भी स्थानीय स्तर तक था। अतिरिक्त उत्पादन की कोशिश इसलिए नहीं की गई क्योंकि इससे कृषकों को कोई फायदा नहीं होता था और अतिरिक्त हिस्से को जमींदार हड़प लेते थे। सीमित उत्पादन और व्यापार के अभाव के परिणामस्वरूप अर्थतंत्र की दृष्टि से

गांव आत्मनिर्भर ईकाई से परिवर्तित हो गए। इस प्रकार अनेक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों का उदय हुआ। सत्ता का विकेन्द्रीकरण इसका सिद्धांत था। राजा ने सत्ता को अपने सामंतों और जागीरदारों में बांट दिया। इसमें सामंत के न्याय के खिलाफ अपील नहीं होती। सत्ता का हस्तांतरण होने के साथ ही राजा की शक्ति में कमी आई और मध्यस्थों की शक्ति में वृद्धि हुई। इस प्रणाली में राज्यों को प्रांतों, और प्रांतों को गांव में बांटा गया था। सत्ता के विकेन्द्रीकरण के कारण शक्ति छोटे-छोटे लोगों के हाथों में बंट गई थी। जिससे गांव की प्रशासनिक इकाइयां (पंचायतें) समाप्त हो गई थी। इस काल में समाज का स्वरूप ग्रामीण था। समाज सैनिक संगठन पर आधारित था क्योंकि शासकीय वर्ग ने युद्धों के जरिए अपना दर्जा ऊंचा किया था। पद के साथ इनकी जाति का भी स्थान बढ़ा। जैसे समाज में राजपूतों का स्तर ऊंचा हुआ। लेकिन जातिवाद पहले की अपेक्षा जटिल हो गया और औरतों की स्थिति में गिरवाट दर्ज की गई। ब्राह्मण का उत्थान हुआ, शासकीय वर्ग द्वारा संरक्षण दिया जाने के कारण। समाज में अनेक नई जातियों का उद्भव हुआ। इसके पीछे भूमि अनुदान प्रणाली उत्तरदायी थी। शिक्षा का माध्यम संस्कृति होने के कारण यह आम आदमी से संबंधित नहीं थी। तकनीकी शिक्षा का अभाव है और रचनात्मक की कमी है। इस समय शास्त्रीय गतिविधियों में भी पुनरावृत्ति है। क्योंकि पुराने शास्त्रों को लगभग ज्यों का त्यों लिखा गया। लेखकों ने तो भी लिखा वह अश्लीलता हैं लेकिन जो गद्य लिखे गए वे वास्तविक हैं जैसे : सामवेद द्वारा रचित कथासरित् सागर। इस समय धर्म को नए ढंग से समझा गया, क्योंकि धर्म में भी अश्लीलता के तत्वों का समावेश है। खुजराहों के मंदिरों इसका उदाहरण है जिनका निर्माण इसी काल में हुआ। इतिहास से संबंधित रचनाओं में स्थानीय शासकों की प्रशंसा के अतिरिक्त कुछ नहीं है जैसे : चालुक्य वंश के शासक विक्रमादित्य पर बिल्हण द्वारा रचित विक्रमादित्यदेव चरित, पद्मगुप्त द्वारा मालवा के शासक सिंधुराज पर लिखी गई किताब नवसांहसचरित आदि। भवभूति, हस्तिमुल्ला ने अनेक नाटक लिखे। काव्य में जयदेवच का रचित गीतगोविंद काफी प्रसिद्ध है।

सामंतवाद का विकास

राजनैतिक सामंतवाद के उद्भव और विकास का ईसवी सन् की पहली शताब्दी से ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमि-अनुदानों से जुड़ा हुआ है। जो क्षेत्र उनको दान किए जाते थे उनमें उन्हें राजस्वविषयक व्यापक अधिकार दिए जाते थे और साथ ही शांति व्यवस्था कायम रखने और अपराधियों से जुर्माना वसूलने जैसे प्रशासनिक अधिकार भी। इस काल में भूमि अनुदान वालों की मंशा चाहे जो भी रही हो किन्तु ऐसे अनुदानों का परिणाम यह हुआ कि देश में आर्थिक एवम् राजनैतिक शक्ति से सम्पन्न एक नए वर्ग का उदय हुआ। तथा शासन तंत्र पर केन्द्र का वह सूक्ष्म और व्यापक नियंत्रण जिसके लिए मौर्य साम्राज्य प्रसिद्ध था वह मौर्यतर काल तथा गुप्तकाल में लुप्त होने लगा और इसका स्थान सत्ता के विकेन्द्रीकरण ने ले लिया। सामंतवादी प्रणाली के विकास में देश विजय की उस क्रिया से भी सहायता मिली जिसमें पराक्रमी राजा छोटे-2 सरदारों को जीतकर उन्हें कर-दाता बनाकर और भक्ति भाव का प्रदर्शन करने का वचन लेकर उन्हें पुनः पदासिन कर देता था। यह प्रक्रिया चन्द्रगुप्त के समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। यद्यपि समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में सामंतवाद शब्द का जिक्र नहीं है तथापि छठी शताब्दी में विजि सरदारों के लिए सामंत शब्द का प्रयोग किया जाता था। धीरे-धीरे सामंतवाद का प्रयोग पराजित सरदारों के अतिरिक्त राज्यधिकारियों के लिए भी होने लगा।

एक विद्वान के अनुसार शक, यवन, कुषाण आदि विदेशी अंशाति उत्पन्न अदा की। अव्यवस्था के युग में प्रत्येक महत्वाकांक्षी शक्तिशाली व्यक्ति ने भी अपने पृथक राज्य कायम कर लिया। गुप्त शासकों ने इन सभी महाराजाओं का अंत नहीं किया। यही कारण है कि गुप्तों के शिथिल होते ही ये पुनः स्वतंत्र हो गए और परस्पर युद्धों द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर हो गए। परिणामस्वरूप समस्त भारत में अव्यवस्था फैल गई और एक प्रकार से मत्स्य न्याय का प्रारंभ हुआ। इसलिए तिब्बती लेखक तारानाथ को यह लिखने का मौका मिला कि "इस काल में प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य अपनी-2 जगह शासक बन बैठे"। गुप्तों के साथ ही भारत में एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गई। सामंती पद्धति का यह एक स्वाभाविक परिणाम था।

कृषकों को कृषि दासों की स्थिति में पहुंचने वाली दूसरी बात थी बेगार प्रथा का विस्तार। पूर्वी काठियावाड़ में प्रतिहारों के सामंतों को ग्रामीणों से बेगार लेना का अधिकार प्राप्त था। वहां यह प्रथा विष्टि नाम से जानी जाती थी। सच तो यह है कि बेगार की प्रथा जितने व्यापक रूप में प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के शासन-काल में गुजरात और महाराष्ट्र में प्रचलित थी, उतनी और किसी काल में नहीं रही। यह राजस्व का एक मुख्य साधन थी। इस काल की अर्थव्यवस्था में चार विशेषताएं प्रमुख हैं :

1. भूमि पर राजकीय और सामुदायिक स्वामित्व का हास हो रहा था तथा व्यक्तिगत स्वामित्व का विकास हो रहा था।
2. उपसामंतीकरण, बेदखली, नए-नए करों के आरोपण तथा बेगार के कारण किसानों की दशा दयनीय हो रही थी।
3. व्यापार और शिल्प-कारीगरी से हाने वाली राजकीय आय मात्रा कुछ लोगों की जागीर बनती जा रही थी।
4. आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का विकास, जिसका अस्तित्व मुद्रा के कम उपयोग और व्यापार की कमी से सिद्ध होता है।

व्यापार और शहरीकरण से सामंतवाद का संबंध

महान फ्रांसीसी इतिहासकार मार्क ब्लॉक ने अपने लेखों में से एक का नाम 'नेचुरल इकोनामी वर्सेस मनी इकोनामी ए स्पूटों डिलैमा' तक रखा और एक अन्य इतिहासकार 'गी बुआ' ने सामंतवादी आर्थिक विकास का संबंध यूरोप में विकसित व्यापार से किया। उन्होंने व्यापार/सामंतवाद के बीच एक कार्यकारण संबंध कायम किया। अनुभव के आधार पर उनके इतिहासकारों ने भारतीय सामंतवाद को व्यापार का पतन तथा मुद्रा की कमी संबंधी धारणा से जोड़ा। परंतु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सोना, चांदी या तांबा जैसी धातुएं ही मध्यकालीन समाजों में मुद्रा का एकमात्र रूप नहीं थी।

मार्क ब्लॉक ने दर्शाया है कि, मध्यकालीन यूरोप में लगभग हर चीज विनिमय का माध्यम थी। मसाले, कपड़ा आदि। भारत में भी विनिमय-माध्यम के रूप में कौड़ियों की परंपरा ने हाल में इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया है, और उसकी महत्ता को दर्शाता है कि कौड़ियों प्राप्त करने में वस्तुतः लंबी दूरी का व्यापार शामिल था, क्योंकि कौड़िया सुदूर मालदीव से आती थी।

निष्कर्ष

अतः हम पाते हैं कि भारतीय सामंतवाद की इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएं दी। चाहे वे डी. डी. कौशांबी हो या आर एस शर्मा शर्मा के तर्कों को बी एन एस यादव तथा डी एन झा द्वारा मजबूती प्रदान की गई। परंतु हरबंस मुखिया ने सवाल खड़ा किया 'क्या भारत में सामंतवाद था?' परंतु हाल में भी इतिहासकार भारतीय सामंतवाद में भक्ति, व्यापार और शहरीकरण का पतन आदि पर सवाल उठा रहे हैं। अतः सामंतवाद कोई सार्वभौमिक व्यवस्था नहीं थी, भारत में सामंतवाद आंशिक रूप से

हो सकता है परंतु प्रत्येक सभ्यता व देश के भू-स्वामी व कृषि दासों या किसानों के संबंध अलग-अलग थे।

संदर्भ सूची

1. शर्मा, आर. एस. (2001)—अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटी: ए स्टडी इन फयुडलाइजेशन, ओरियण्ट लांगमैन, कलकत्ता।
2. शर्मा आर. एस. (1965)— द इंडियन फयूडिलिजम, नई दिल्ली।
3. कौशाम्बी डी. डी. (1956)—एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बम्बई।
4. झा, डी. एन.—(2000)—द फयूडल ऑर्डर : स्टेट, सोसाइटी एण्ड आइडियोलोजी इन अर्ली मिडिवल इंडिया, नई दिल्ली।
5. मुखिया हरबंस (1999)— द फयुडलिजम डिबेट, नई दिल्ली।